इकाई 36 अर्थव्यवस्था में परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

36.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य है कि आपका परिचय गुप्त और विशेषकर उत्तर-गुप्त काल में होने वाले आर्थिक परिवर्तनों से कराना। इस प्रकार से हम प्रारंभिक मध्यकालीन भारत के संक्रमण के एक महत्वपूर्ण पक्ष का विवेचन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको:

- भूमि अनुदानों की उत्पत्ति एवं आर्थिक परिणामों की जानकारी प्राप्त होगी,
- नगरों और अन्य नगरीय बस्तियों के क्रमिक पतन की प्रक्रिया एवं परिणामों के विषय में जानकारी होगी,
- ग्रामों तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था की विशेषताओं का ज्ञान होगा,
- कृषि सम्बन्धों की विशेषता, और
- उन परिवर्तनों के विषय में ज्ञात होगा जो कृषि उत्पादन के सुधारों के लिये उत्तरदायी थे।

36.1 प्रस्तावना

गुप्त और उत्तर-गुप्त काल की विशेषताओं का निर्धारण भारतीय अर्थव्यवस्था में हुए कुछ निश्चित परिवर्तनों के द्वारा किया गया।

खण्ड 8 (इकाई 33) में हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि गुप्त काल से व्यापार एवं शहरी बस्तियों का ह्रास प्रारंभ हो चुका था। परन्तु ये भारतीय समाज की बहुत महत्वपूर्ण विशेषताएं थीं। इन परिवर्तनों के निम्नलिखित कई उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं:

1) गुप्तकाल के बाद से नगर (जैसे कि तक्षशिला, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र) प्रायः लुप्त हो गए। शहरी बस्तियों का यह ह्रास कोई अपवाद नहीं था बल्कि ऐसा मालूम पड़ता है कि यह एक सामान्य विशेषता थी।
2) बहुत से कारणों से व्यापारिक गतिविधियों को भी धक्का लगा और उनकी गति भी मंद पड़ गई। इसकी

पुष्टि शायद इस तथ्य से भी होती है कि इस समय में पहले की अपेक्षाकृत सिक्कों का निर्माण एवं जारी होना बहुत सीमित स्तर पर हो गया। इन परिवर्तनों का विस्तृत रूप से विश्लेषण आगे किया जाएगा।

इस पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए कि ये परिवर्तन गुप्त काल में ही प्रारंभ हो चुके थे। नगरों के पतन का यह तात्पर्य नहीं है कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में गिरावट आई। परन्तु हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि अब अर्थव्यवस्था नगरों के दस्तकारी वस्तुओं के उत्पादन एवं व्यापार की गतिविधियों, तथा कृषि के, आधारों पर चलने के बजाय, केवल एक ही आधार पर चलनी प्रारंभ हुई। यह मुख्य रूप से एक कृषि अर्थव्यवस्था थी।

36.2 आर्थिक परिवर्तनों की व्याख्या

इन परिवर्तनों की व्याख्या कौन कैसे करता है? कुछ इतिहासकारों का अनुमान है कि इस विकास की प्रक्रिया में भूमि-अनुदानों की प्रथा निर्णायक तत्व थी। भूमि-अनुदानों की संख्या में वृद्धि गुप्त तथा विशेषकर उत्तर-गुप्तकाल में हुई तथा सम्पूर्ण देश में इसका प्रसार हो गया। भूमि-अनुदानों को राजाओं, सरकारों, राज्य परिवार के सदस्यों और उनके सामंतों द्वारा, ब्राह्मणों और मंदिर जैसी धार्मिक संस्थानों एवं मठों को व्यापक स्तर पर किया जाता था। इससे पूर्व दक्कन में सातवाहनों ने इन अनुदान प्राप्तकर्ताओं को केवल लगान वसूल करने के अधिकार दिए थे। परन्तु पांचवीं शताब्दी ई. से न केवल इन भूमि-अनुदान प्राप्तकर्ताओं को भू-राजस्व (लगान) वसूल करने का अधिकार मिल गया अपितु इन क्षेत्रों में स्थित खानों से प्राप्त होने वाले खनिज पदार्थों को भी उनके अधीन कर दिया गया। दान की गई भूमि, गांव और गांवों को राजकीय अधिकारियों एवं सिपाहियों के हस्तक्षेप से मुक्त कर दिया गया। अंततः राजाओं और राजकुमारों ने इन अनुदान ग्रहीत ब्राह्मणों को यह अधिकार भी दिये कि वे उन सभी अपराधों के लिए दण्ड दे सकते थे जो परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्ति विशेष के विरुद्ध किए गए हों तथा यहां तक कि उनको आर्थिक दण्ड देने और इसको प्राप्त करने का भी विशेष अधिकार दिया गया।

राज्य के अधीनस्थ विभिन्न वर्गों के अधिकारियों को सेवा के लिए भूमि-अनुदान धार्मिक अनुदानों की अपेक्षा काफी कम दिया जाता था। समकालीन धर्मशास्त्रों के साहित्य में यह अनुमोदन किया गया है कि राज्य के अधिकारियों को वेतन के बदले भूमि-अनुदान या भू-राजस्व को एकत्रित करने का अधिकार दिया जा सकता था। गैर-धार्मिक अनुदानों की संख्या इस काल में कितनी थी इसके वास्तविक तथ्यों के बारे में विवरण देना इस इकाई का उद्देश्य नहीं है। आगामी समय अर्थात् 9-10वीं ई. सदी में इनकी संख्या में अवश्य वृद्धि हुई। इन अनुदानों में भी उसी प्रकार की छूटें एवं अधिकार दिए गए जो ब्राह्मणों, मंदिरों एवं मठों के लिए दिए गए थे।

अन्य बातों के साथ-साथ, भूमि-अनुदानों की यह प्रक्रिया भूमि पर अधिकारों के प्रश्न, किसान की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों, नगरों में दस्तकारों तथा व्यापारियों के स्वतंत्र संगठन के अधिकार और बंद अर्थव्यवस्था के उदय का एक अभिप्राय थी। जिन ग्रामों एवं नगरों का अनुदान किया जाता उनके निवासियों को बहुत से कर अदा करने के साथ-साथ दान प्राप्तकर्ताओं की आज्ञा का अनुसरण करने के लिए भी कहा जाता। समुद्रगुप्त को आरोपित करते हुए, सातवीं सदी के दो राजाओं के द्वारा कर देने वाले किसानों एवं कारीगरों को अपना गांव छोड़ने और कर से मुक्त ग्राम में बसने से मना किया गया। भूमि-अनुदान के साथ-साथ अनुदान प्राप्तकर्ताओं के लाभ के लिए किसानों को भी देने की परम्परा का प्रारंभ छठी शताब्दी में मध्य भारत, उड़ीसा और गुजरात में हुआ तथा आठवीं सदी के आसपास यह परम्परा भारत के बहुत से भागों में काफी सामान्य हो गई। इससे भी अधिक, कारीगरों एवं सौदागरों को अपने स्थानीय ग्राहकों तथा स्वामियों की सेवा के लिए अपने निवास स्थलों तक ही सीमित कर दिया गया। दक्कन एवं दक्षिण भारत में कारीगरों को मंदिरों तथा मठों को दिया जाने लगा। ह्वेन-त्सांग ने भी इस प्रकार के दानों के प्रमाण दिए हैं। व्यापारियों की स्थिति भी कोई विशेष अच्छी नहीं थी। पश्चिम-दक्कन भारत से छठी-आठवीं सदी के प्राप्त हुए कुछ राजपत्रों में उन प्रतिबंधों का उल्लेख है जो व्यापारियों के कार्यों को सीमित करते हैं।

किसानों, कारीगरों और व्यापारियों को उनकी बस्तियों के साथ जोड़ देने तथा उनकी गतिविधियों पर विभिन्न प्रतिबंधों को लगा देने से एक ऐसा वातावरण बना जिसमें बंद अर्थव्यवस्था का उदय एक स्वाभाविक परिणाम था।

36.3 व्यापार का ह्रास

गुप्त और उत्तर-गुप्त काल में हुए आर्थिक परिवर्तनों का प्रत्यक्ष परिणाम भारत के आंतरिक एवं बाह्य व्यापार में ह्रास था। उत्तर-मौर्य काल में भारतीय विदेश व्यापार अपने चरमोत्कर्ष पर था क्योंकि तब भारत रोमन साम्राज्य, सेन्ट्रल एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ व्यापार करता था। परन्तु व्यापारिक ह्रास का प्रारंभ गुप्त काल में हुआ और छठी सदी ई. के मध्य में अधिक गहरा हो गया। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों के बाद रोमन सिक्कों का वहाव भारत के अंदर आना बंद हो गया। अन्य दूसरे स्रोतों से भी यह पता चलता है कि पश्चिम विश्व के साथ सम्पर्क का अभाव था। आगे की सदियों में रोमन साम्राज्य भी बिखर गया। व्यापार में, अरव एवं ईरानियों का प्रतियोगी के रूप में पैदा हो जाना, भारतीय सौदागरों के लिए अच्छा शकुनकारी सिद्ध नहीं हुआ। छठी शताब्दी ई. के आसपास के बिज़न्टाईन साम्राज्य के कुछ सिक्के आन्ध्र प्रदेश एवं कर्नाटक में प्राप्त हुए हैं। परन्तु संख्या की दृष्टि से इन सिक्कों की तुलना इससे परवर्ती काल के रोमन सिक्कों की भारी संख्या से नहीं की जा सकती। भारतीय बिज़न्टाईन व्यापार में मुख्य वस्तुएं रेशम एवं मसाले थे। छठी सदी ई. के मध्य बिज़न्टाईन लोगों ने कीड़ों से पैदा होने वाली रेशम की कला को सीख लिया। परिणामस्वरूप, रेशम का व्यापार भयंकर रूप से प्रभावित हुआ। रेशम का कपड़ा बनाने वाले जुलाहों का गुजरात से विस्थापित होना और दूसरे व्यवसायों को अंगीकार करना भी इसकी पुष्टि करता है। सेन्ट्रल एशिया के साथ गुप्त शासकों के संबंध कमज़ोर थे। इस समय में सेन्ट्रल एशिया और पश्चिम एशिया के साथ जो कुछ भी सम्बन्ध थे हूणं आक्रमणों के वाद वे पूर्णतः समाप्त हो गए।

ऐसा कहा जाता है कि भारत के समुद्र तट के नगरों का कुछ व्यापार दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों एवं चीन के साथ चलता रहा। परन्तु इस आपसी व्यापार का कोई विशेष प्रभाव नज़र नहीं आता। इसका प्रमाण तो है कि भारत से दक्षिण-पूर्वी एशिया में सांस्कृतिक प्रभावों का प्रसार प्रारंभिक ऐतिहासिक तथा प्रारंभिक मध्यकालीन कालों में हुआ परन्तु इस काल के वर्तनों, सिक्कों या दूसरी वस्तुओं से संबंधित एक भी ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जाए कि इनके मध्य कोई विशेष वाणिज्य होता था। प्रारंभ में, भारत दक्षिण-पूर्वी एशिया के कुछ अन्य देशों के साथ मोतियों एवं अन्य वस्तुओं का व्यापार करता था, परन्तु चौथी शताब्दी ई. के वाद इस प्रकार के व्यापार का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जो भारतीय प्रतिनिधि मण्डल चीन गए उनसे भी कुछ अधिक न हो सका। छठी सदी ई. से इस प्रकार के प्रतिनिधि मंडलों को विदेश भेजने की परम्परा में कमी आने लगी। तमिलनाडु से जो चीनी सिक्के एवं पीले-हरे रंग के मृद भांड पाए गए तथा जिनको नौवीं सदी ई. या इसके वाद के काल का बताया गया है, के अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य प्रमाण नहीं मिलता है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इस काल में भारत-चीन के मध्य व्यापार होता था।

व्यापार में ह्रास केवल विदेशी व्यापार तक ही सीमित न था। समुद्र तटीय नगरों तथा दूर-दराज के नगरों के बीच सम्पर्क कमज़ोर पड़ जाने के कारण आंतरिक व्यापार का भी पतन हुआ और इसका प्रभाव ग्रामों एवं नगरों के बीच होने वाले व्यापार पर भी पड़ा। शहरों का पतन, शहरी उपभोग उत्पादन में कमी आना तथा व्यापार का ह्रास, ये सब एक दूसरे से संबंधित समस्याएं थीं। इस काल के दौरान समाज में व्यापारियों एवं सौदागरों की स्थिति का पतन भी व्यापार एवं वाणिज्य के पतित होते भाग्य की ओर इशारा करता है। भूमि से लाभ प्राप्तकर्ताओं के अधीनस्थ आत्म-निर्भर असंख्य इकाइयों के उदय ने भी व्यापार पर नकारात्मक प्रभाव डाला। वाद के काल के एक ग्रंथ, **कथासरित्सागर** में उल्लेख हुआ है कि कई प्रकार के करों को अदा कर पाने में असमर्थ व्यापारी जंगलों की ओर चले गए। समुद्र-अभियानों और दूर-स्थलों की यात्राओं को धार्मिक रूप से प्रतिबंधित किया गया। इस प्रकार के दृष्टिकोणों के कारण निश्चित रूप से व्यापार को बढ़ावा नहीं मिला।

परन्तु इन सवका तात्पर्य यह नहीं है कि आवश्यक वस्तुओं जैसे कि नमक, लोहे और शिल्प वस्तुओं आदि का व्यापार नहीं होता था।

ये आवश्यक उपभोग की वस्तुएं भी प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध नहीं थीं। इसके साथ-साथ लम्बी दूरी का व्यापार सम्मानीय, मंहगी विलासिता के सामानों जैसे कि बहुमूल्य पत्थरों, हाथीदांत की चीज़ों और घोड़ों के लिए लगातार चलता रहा। इस प्रकार की वस्तुओं के लिए कुलिनों, सरदारों और राजाओं के बीच मांग बनी रहती थी। इसलिये कुछ शताब्दियों के लिए विशाल तथा संगठित व्यापार का स्थान घुमक्कड़ छोटे सौदागरों, असंगठित और धीमी गति के व्यापार ने ले लिया।

36.4 सिक्कों की कमी

उत्तर-गुप्त काल में वाणिज्य के पतन की अभिव्यक्ति सिक्कों की कमी के रूप में भी होती है। कुषाण एवं गुप्त काल में सोने के सिक्कों की जो बहुतायत थी उनका छठी सदी ई. के बाद जारी होना बंद हो गया। चांदी और तांबे के सिक्कों की अनुपस्थिति भी हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करती है। यह उल्लेखनीय है कि गुप्त काल के सोने के सिक्कों में सोने की मात्रा का अनुपात लगातार घट रहा था और बाद के गुप्त सोने के सिक्कों में सोने की मात्रा कुषाण सोने के सिक्कों की तुलना में आधी रह गई। गुप्त काल के सिक्कों की संख्या के रूप में तुलना भी ईसा की प्रारंभिक सदियों के साथ अच्छी प्रकार से नहीं होती है। इस काल के सिक्कों के विषय में शिलालेख संबंधी प्रमाण भी, सिक्कों की वास्तविक उपलब्धि की कमी के बारे में कोई विशेष प्रकाश नहीं डालते। हर्षवर्धन के द्वारा जारी किए गए सिक्के भी बहुत कम हैं तथा राष्ट्रकूट एवं पाल जो आठवीं सदी ई. में क्रमशः दक्कन एवं बंगाल में सत्ता में आए थे, ने अपने कोई सिक्के जारी नहीं किए। उत्तरी भारत के अधिकतर भागों, बंगाल, उड़ीसा, मध्य भारत तथा दक्कन में धातु वाली मुद्रा का पूर्ण अभाव था। जो इन क्षेत्रों के लिए सत्य था वह पूर्णतः दक्षिण भारत के लिए भी। बहुत से अध्ययनों से भी स्पष्ट है कि इस काल में ढले हुए सिक्कों तथा वाणिज्य मोहरों का पूर्ण अभाव था। परन्तु देश के अन्य भागों की तुलना में पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी भागों में **1000** ई. तक के प्रचुर मात्रा में सिक्के प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त, इस काल के कश्मीर से भी काफी मात्रा में सिक्के मिलते हैं।

इस संदर्भ में कुछ इतिहासकार यह तर्क देते हैं कि परवर्ती सदियों में जारी किए गए सिक्कों ने बाद के समय की मुद्रा आपूर्ति की मांग को पूरा किया, इसलिए नए सिक्कों को जारी करना अनावश्यक था। परन्तु यहां पर हम जिस काल का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं उस समय में कृषि का व्यापक स्तर पर प्रसार हुआ और केवल इसकी पूर्ति के लिए काफी मात्रा में धातु मुद्रा धन की आवश्यकता होगी। दूसरे, सिक्के सार्वभौमिक सत्ता की भी अभिव्यक्ति थे। जब तक गंभीर मजबूरियां न हों तब तक कोई भी शासक सिक्कों को अपने नाम से जारी करने के विशेष अधिकार से स्वयं को वंचित नहीं करेगा। व्यापार के ह्रास तथा उच्च अधिकारियों को नकद धन का भुगतान करने के स्थान पर भूमि-अनुदान की परम्परा ने सिक्कों की आवश्यकता को खत्म कर दिया। इन सबके साथ-साथ इस बात के भी प्रमाण हैं कि नित्य-प्रतिदिन के लेन-देन के लिए अब मुद्रा का स्थान वस्तु विनिमय (**barter system**) एवं कौड़ियों ने ले लिया था।

36.5 नगरों का ह्रास

व्यापार का ह्रास, सिक्कों की कमी, सिक्के के सांचों तथा वाणिज्य मोहरों की अनुपस्थिति आर्थिक ह्रास एवं निर्मित उत्पादों की मांग में कमी की ओर इशारा करते हैं। जो नगर उत्तर-मौर्य काल में दस्तकारी उत्पादन के सक्रिय केन्द्र थे वे इस काल में निष्क्रिय एवं निर्जन्य हो गए। उत्तर भारत में जो नगर परवर्ती-कुषाण एवं कुषाण काल से तथा दक्कन में जो सातवाहन शासन काल से जुड़े हुए थे उनका ह्रास तीसरी सदी ई. के मध्य या चौथी सदी ई. से प्रारंभ हुआ। जो उत्तरी भारत, मालवा और दक्कन के लिए सत्य था वही दक्षिणी भारत के लिए भी समान सत्य था। वास्तव में नगरीय जीवन का ह्रास दो चरणों में हुआ। प्रथम का सम्बन्ध गुप्त शक्ति के उदय के दूसरे पहलू के साथ जुड़ा था। इस काल के नगरों जैसे कि संघोल, हस्तिनापुर, अंतरजिखेड़ा, मथुरा, सौंख, श्रावस्ती, कौशाम्बी, खैरादिह, चिरंद, तमलुक आदि के उत्खनन से स्पष्ट है कि गंगा के ऊपरी तथा मध्य मैदानों के नगरों का ह्रास होना प्रारंभ हो गया था। राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र के प्रारंभिक सम्पन्न केन्द्रों जैसे कि नॉह, उज्जैन, नागर, पौणी, तेर, भौकरदन, नालिक, पैंठन आदि नगरों में भी इसी प्रकार का झुकाव देखने को मिलता है। तमिलनाडु में अरिकामेदू, आन्ध्र प्रदेश तथा कर्नाटक के सातवाहन काल के नगरीय केन्द्र भी इस विशेषता के अपवाद नहीं थे। चौथी सदी से छठी सदी तक के इस प्रकार के प्राचीन केन्द्रों के निवास स्थलों की दीवारें प्रारंभिक शताब्दियों की तुलना में काफी पतली, खस्ता हालत एवं कम माल प्रयोग किए गए अवशेष हैं। बहुत से गुप्त कालीन प्राचीन स्थलों के निर्माण में प्रारंभिक दीवारों की ईटों, तथा कच्चे माल का पुनः प्रयोग किया गया है। नगरीय केन्द्रों के स्थलीय प्रसार तथा नागरिक सुविधाओं के दृष्टिकोण से ये नगर अपने परवर्ती कुषाण युग की तुलना में नगण्य हैं। अपने ह्रास के प्रथम चरण में संख्या के आधार पर कुछ ही नगर जैसे कि पाटलिपुत्र, वैशाली, वाराणसी तथा भीटा बच पाए। ये नगर गुप्त साम्राज्य के मुख्य क्षेत्रों में स्थित थे और इनके बच पाने का मुख्यतः यही कारण रहा होगा। नगरीय ह्रास का दूसरा चरण छठी सदी ई. के बाद शुरू हुआ और इसके पश्चात् ये केन्द्र नगर रह ही नहीं सके।

दस्तकारी तथा उपभोग निर्माण के सामान्य पतन की स्थिति में, पत्थर के मोतियों की मालाएं बनाने, खोल

वाली व हाथी दांत की वस्तुओं तथा शीशे के सामानों का निर्माण प्रायः समाप्त-सा हो गया। उत्तर-पांचवीं सदी ई. के निवासीय अवशेष स्थलों से ये वस्तुएं बहुत ही कम संख्या में प्राप्त हुई हैं। उत्तर-गुप्त काल के मृदभांडों से किसी भी प्रकार की कलात्मक बनावट प्रतीत नहीं होती और वे मुख्यतः साधारण प्रकार की हैं।

समकालीन साहित्य एवं अभिलेखों से भी भली-भांति नगरों एवं शहरों का पतन प्रकट होता है। छठी सदी ई. तक के अभिलेखों एवं मोहरों में नगरीय जीवन में कारीगरों, दस्तकारों तथा व्यापारियों के महत्व का उल्लेख किया गया है। बंगाल से प्राप्त अभिलेखों में कहा गया है कि उन्होंने नगरों के प्रशासन में विशेष योगदान किया। परन्तु छठी सदी के बाद इस प्रकार के स्रोतों से हमें ऐसी कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। उत्तर-गुप्त काल में कुछ निश्चित शब्दों के भावार्थ में आए परिवर्तन उस समय की परिस्थितियों में हुए परिवर्तन की ओर स्पष्ट इशारा करते हैं। जैसे कि "श्रेणी" शब्द का कारीगरों तथा व्यापारियों के संगठन के लिए प्रयोग होता था परन्तु अब इसका उपयोग जाति के लिए होने लगा तथा निगम का अर्थ गांव से हो गया। छठी सदी ई. के पूर्वार्द्ध की बराहमिहिर की रचना **वृहत संहिता** में दस्तकारी, नगरों, एवं व्यापार के ह्रास का उल्लेख हुआ है। उत्तरी भारत में बौद्ध नगरों के पतन का उल्लेख चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग ने अपने यात्रा विवरणों में किया है तथा वह हर्षवर्धन के शासनकाल में भारत आया था। वात्सायन के **कामसूत्र** में जिस नगरीय जीवन का सजीव एवं रोमांचक चित्रण हुआ है, उत्तर-गुप्त काल के साहित्य जैसे कि दामोदरगुप्त की रचना **कुत्तानिमतम** (सातवीं सदी ई.) में इतना सजीव वर्णन नहीं है तथा वह मुख्यतः ग्रामीण जीवन का ही उल्लेख करती है।

परन्तु सभी बस्तियां ग्रामीण नहीं थीं। उत्तर-गुप्त काल में गैर-कृषि बस्तियों की अभिव्यक्ति प्रशासनिक स्थलों, सैन्य दुर्गों तथा धार्मिक या तीर्थस्थल केन्द्रों के रूप में हुई। छठी सदी से आठवीं सदी ई. तक के अभिलेखों में सेना के कैम्पों का **स्कन्धवरा** के नाम से उल्लेख किया गया है। इसके प्रमाण उपलब्ध हैं कि कुछ नगर इसलिए बचे रह सके क्योंकि उनका परिवर्तन तीर्थस्थल केन्द्रों के रूप में हो गया। इन सभी गैर-कृषि बस्तियों को पुरा, पट्टन, नगर तथा राजधानी के नाम से जाना जाता था और ये उत्पादन के केन्द्र न होकर खपत के केन्द्र थे।

बोध प्रश्न 1

1) उन कारणों को दस पंक्तियों में लिखिए जो व्यापार के ह्रास के लिए उत्तरदायी थे।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित में कौन-सा कथन सही (√) और कौन-सा गलत (×) है:

i) उत्तर-गुप्त काल में सिक्कों की कमी वाणिज्य के ह्रास को अभिव्यक्त नहीं करती।

ii) उत्तर-गुप्त काल में शहरी बस्तियों का ह्रास हुआ।

iii) उत्तर-गुप्त काल में धार्मिक मठों को दिए जाने वाले भूमि-अनुदानों की संख्या में वृद्धि हुई।

iv) कुछ क्षेत्रों में भूमि को दान प्राप्तकर्ताओं को देते समय किसानों को भी दिए जाने की प्रथा का प्रारंभ हुआ।

v) भारत के समुद्र तटीय नगरों का दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ कोई व्यापारिक सम्पर्क नहीं था।

36.6 कृषि का प्रसार

गुप्त तथा उत्तर-गुप्त काल के शिलालेखीय प्रमाणों से स्पष्ट है कि इस समय में कृषि विकास एवं ग्रामीण प्रसार व्यापक स्तर पर हुआ। राजाओं, राजकुमारों तथा सरकारों के द्वारा कृषि को प्रदान किए गए संरक्षण, सिंचाई सुविधाओं में सुधार, कृषि विज्ञान के बढ़ते ज्ञान आदि ऐसे कुछ कारक तत्व थे जिनके कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था और सुदृढ़ हुई।

यह संभव है कि शहरों के पतन के फलस्वरूप बहुत से निपुण कारीगर ग्रामीण क्षेत्रों की ओर पलायन कर गए हों। उनमें से कुछ ने अपने पेशों को ही बदल लिया। दस्तकारों तथा कारीगरों के साथ-साथ तकनीकी कौशल के ग्रामीण अंचलों में बिखराव के कारण कृषि का विकास और तीव्र गति के साथ हुआ। कबिलाई सीमांत क्षेत्रों में भूमि-अनुदानों के कारण नवीन भूमि कृषि कार्यों के लिए उपलब्ध हो गई।

दक्कन तथा मध्य भारत में, पांचवीं सदी से सातवीं सदी तक लगभग पचास शासक शक्तियां अस्तित्व में रहीं। वे महाराष्ट्र, पूर्वी मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा तथा बंगाल में फैली हुई थीं। इस क्षेत्र के बहुत से नए-नए शासक वंशों ने अपने स्वयं के भूमि-अनुदानों को जारी किया जिससे स्पष्ट है कि उनके अपने राज्यों में अधिकारीगण, सैनिक आदि का अस्तित्व था। इन राज्यों में से प्रत्येक भूमि और कृषि से प्राप्त होने वाले राजस्व पर निर्भर करता था। वास्तव में, उत्तर-गुप्त काल में कृषि ने राज्य के आधार को निर्मित किया। इस प्रकार प्रारम्भ में जिन क्षेत्रों में राज्य की स्थापना नहीं हुई थी उन क्षेत्रों में राज्य की स्थापना वहाँ की ग्रामीण अर्थव्यवस्था एवं कृषि प्रसार के लिये अग्रदूत साबित हुई।

इस समय में संस्कृत और गैर-संस्कृत नामों से प्रचलित बहुत से गांवों का उदय हुआ। समकालीन साहित्य में ग्रामीण जीवन का सजीव विवरण किया गया और जिनमें ग्रामीण बस्तियों की सम्पन्नता झलकती है। स्कन्द पुराण में विभिन्न क्षेत्रों के बहुत से ग्रामों का उल्लेख है। इसी भांति, बाद के युग से संबंधित ग्रंथों में पश्चिम तथा दक्षिण भारत की ग्रामीण बस्तियों की स्थापना एवं प्रसार के विषय में विवरण दिया गया है। उत्तर-गुप्त काल की अनेक भूमि-अनुदान आज्ञाओं में बहुत से ग्रामों के नामों को उद्धत किया गया। इनमें पुरानी बस्तियों के नाम भी सम्मिलित हैं। परन्तु नए गांवों का उद्भव व्यापक स्तर पर हुआ। हम गांवों का नाम केवल तभी नहीं जान पाते हैं जबकि अमुक गांवों का अनुदान किया गया बल्कि अनुदानित किए गए गांवों की सीमाओं पर बसे अनेक गांवों के नामों का भी ज्ञान हमें होता है।

36.6.1 कृषि ज्ञान एवं तकनीकी में प्रगति

कृषि के बारे में वृहत् संहित, अग्नि पुराण, विष्णुधर्मोत्तरा पुराण तथा कृषि पारासर में जो दिशा-निर्देश दिए गए हैं उनके आधार पर कृषि के बढ़ते हुए महत्व को समझा जा सकता है। हर्षचरित में फसलों को खाद देकर अधिक उपजाऊ बनाने के महत्व को स्पष्ट रूप से समझाया गया है। इसमें लिखा है कि खेतों में खाद देने के लिए गाय के गोबर व कूड़ा-करकट का उपयोग किया जाए। हर्षचरित में कई प्रकार से खेतों की जुताई का उल्लेख है, जैसे कि हल से जुताई करना, कुदाल से खुदाई करना तथा जंगलों को तेज हथियार से एवं जलाकर साफकर जुताई करने योग्य बनाना। शासकों और भूमि से अन्य लाभ प्राप्तकर्ताओं ने खेती की ओर जो विशेष ध्यान दिया उसको हल के विस्तृत वृतांतों तथा सिंचाई तकनीकों में सुधार के रूप में भी देखा जा सकता है। जमीन की पैमाइश करने के लिए इस समय लोकप्रिय तथा व्यापक रूप से प्रचलित इकाई को हल कहा गया जो इस समय में हल के महत्व को दर्शाता है। **कष्यापियाकृषिसुक्ति** नाम के ग्रंथ में कृषि से संबंधित सभी पक्षों का विस्तृत रूप से विवेचन किया गया तथा इसकी रचना आठवीं-नौवीं सदियों में की गई थी। प्रथम सहस्राब्दि ई. से पहले की अंतिम सदियों के कुछ इस प्रकार के ग्रंथ मिलते हैं जिनमें पौधों तथा पशुओं की बीमारियों की रोकथाम के विभिन्न तरीके सुझाए गए हैं।

हर्षचरित में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के आसपास के क्षेत्र में कुछ सिंचाई सुविधाओं का उल्लेख है। इन सिंचाई के तरीकों का **उद्घटघटि** और **घटीयन्त्र** (रहंट) के नाम से उल्लेख किया गया है। बंगाल से प्राप्त अभिलेखों में ग्रामीण बस्तियों तथा उनकी सीमाओं के संदर्भ में नदियों, नालों तथा स्रोतों का उल्लेख हुआ है और इसी के साथ-साथ हमें **देवायात्रिका** (वर्षा द्वारा सिंचाई) का भी नाम मिलता है जो कृषि की निर्भरता को वर्षा और नदियों पर व्यक्त करता है। दक्षिण भारत में खेतों की सिंचाई के लिए तालाबों तथा बांधों का निर्माण किया जाता था। कुछ मामलों में तो वे ग्रामीण अंचलों में विशेष महत्व रखते थे जिससे उनका महत्व और भी बढ़ जाता है। दक्षिण भारत में पल्लव शासकों के शासनकाल में इन तालाबों तथा बांधों के निर्माण एवं रख-रखाव के लिए ग्रामों में निर्वाचित समितियां (**एरि-वरियामें**) थीं। बहुत से पल्लव शासकों को इस प्रकार की सिंचाई सुविधाओं का निर्माण करने के लिए कीर्ति प्रदान की गई। दसवीं सदी ई. के आसपास राजस्थान के

पूर्वी मेवाड़ के ग्रामीण क्षेत्रों में **अराघाटो** या कुओं से सिंचाई करने की प्रथा का प्रचलन था। यह भी संभव है कि इनका उपयोग इस तिथि से पूर्व ही होने लगा हो।

36.6.2 फसलें एवं पौधे

अमरकोष में, जिसकी रचना की तिथि गुप्त काल मानी गई है, अन्न से संबंधित बहुत सी किस्मों जैसे कि चावल, गेहूं तथा मसूर, फलियों वाले अनाज, सब्जियों और फलों के नामों का उल्लेख है। **बृहत् संहिता** से स्पष्ट है कि लोगों को फलों के पौधों की कलम बांधने के कार्य का ज्ञान था। ह्वेन-त्सांग ने चावल की किस्मों, सरसों, अदरक, बहुत से फलों तथा सब्जियों को उद्धृत किया है। **हर्षचरित** में भी फसलों तथा पौधों के विषय में अच्छा-खासा विवरण है। विभिन्न प्रकार के चावल, गन्ना, सरसों, तिल, कपास, गेहूं, जौ एवं दालों का विवरण भी हमें **हर्षचरित** में मिलता है। विभिन्न प्रकार के मसालों जैसे कि हल्दी, लौंग, काली मिर्च और अदरख का भी उत्पादन होता था। सब्जियों में लौकी, खीरा, सेम, लहसुन, कद्दू आदि का उत्पादन होता था। फलों में नारियल, सुपारी, कटहल, सन्तरा, महुआ और आम को उद्धृत किया जा सकता है। पान की पत्तियों का भी उत्पादन होता था। इनमें से कुछ पौधों तथा फलों को कुछ इस काल के अभिलेखों में उद्धृत किया गया है। बाण की रचना **हर्षचरित** में व्यापक भौगोलिक क्षेत्र का विवरण है जिसके अंतर्गत गंगा के ऊपरी तथा मध्य मैदानों सहित असम, बंगाल एवं मध्य भारत को भी सम्मिलित किया गया है। इसलिए मध्य भारत के संदर्भ में बांसों, कपास के पौधों, सन व पटसन के गट्ठरों का उल्लेख किया गया है और बेंत, बांस तथा रेशम का पूर्वी भारत के विषय में। पल्लवों तथा चालुक्यों के क्षेत्रों में, जो सामान्यतः तमिलनाडु, पश्चिमी दक्कन तथा कर्नाटक के हिस्सों में फैला हुआ था, चावल, ज्वार-बाजरा, अदरक तथा गन्ने आदि की खेती होती थी। फलों में केले सहित कटहल, आम तथा नारियल का उत्पादन होता था। यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि अनाजों, फलों तथा सब्जियों की किस्में एवं संख्या बहुत ही प्रभावित करने वाली हैं। ग्रामीण बस्तियों में ब्राह्मणों तथा कारीगरों की उपस्थिति, भूमि की पुनः प्राप्ति, तकनीकी में कुछ निश्चित परिवर्तनों और सिंचाई सुविधाओं के प्रसार ने अनाजों तथा पौधों के उत्पादन में वृद्धि की। इन सब विकास कार्यों का परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई।

36.7 ग्रामीण बस्तियां

उपरोक्त वर्णित विकासों ने प्रारंभिक मध्यकालीन भारत की ग्रामीण बस्तियों में स्थान ग्रहण किया। गांवों के लिए सामान्यतः ग्राम शब्द का प्रयोग किया गया। परन्तु सभी ग्रामीण बस्तियां एक समान नहीं थीं। हमें ऐसे दूसरे शब्दों के विषय में भी जानकारी है जो भिन्न प्रकार की ग्रामीण बस्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। **पालि** को सामान्यतः आदिवासी गांव के लिए प्रयोग किया जाता था। **पटका** से गांव के एक भाग का बोध होता है। यह एक छोटे गांव या पुरवा को इंगित करता है परन्तु वास्तव में यह एक बड़े गांव का ही एक भाग था। एक ही गांव की सीमाओं के अंतर्गत कई पटकों या पुरवों के पैदा हो जाने से स्पष्ट है कि कृषि का प्रसार हुआ। चरवाहों की बस्तियों को **घोष** कहा जाता था। परन्तु यह याद रखा जाना चाहिए कि ये शब्द जो विभिन्न प्रकार की बस्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे सदैव परिवर्तित होते रहते थे। कृषि एवं ब्राह्मणिक संस्कृति के प्रसार के कारण आदिवासियों की बस्तियों के चरित्र में भी परिवर्तन हो गया था।

बहुत से कारणों के एक साथ मिश्रित हो जाने के कारण कुछ गांव ऐसी जगहों पर बस गए जहां एक बिन्दु पर ग्रामीण बस्तियों का एक समूह मिलता था और वे बड़ी बस्तियों में तबदील हो गए। वास्तव में, 9वीं सदी ई. से कुछ इस प्रकार की बड़ी बस्तियां नगरीय केन्द्रों में परिवर्तित होनी प्रारंभ हो गईं। यहां पर यह याद रखना होगा कि बस्तियों के नामों से इस प्रकार के परिवर्तन सदैव प्रकट नहीं होते थे। यहां तक कि अगर कोई ग्रामीण बस्ती अपने आकार तथा चरित्र में बदल जाती थी परन्तु उसके प्रारंभिक ग्रामीण नामों का प्रयोग जारी रहता था। गांवों के अपने संस्कृत तथा गैर-संस्कृत नामों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये आदिवासी छोटे गांव थे जिनका क्रमिक रूप से संक्रमण कृषि ग्रामों में तथा संस्कृत नाम वाले गांवों में ब्राह्मणिक संस्कृति एवं विचारधारा का प्रसार हुआ। गांव का निर्माण कैसे होता था? "सामान्यतः" एक गांव के अंतर्गत निवास स्थल (वस्तु), खेती-बाड़ी वाली भूमि (क्षेत्र) और बिना जुताई वाली भूमि आती थी। भूमि की इस अंतिम श्रेणी के अंतर्गत चरागाह मैदान (गौचर) और जंगल सम्मिलित थे। गांवों की सीमाओं का निर्धारण करना एक समस्या थी क्योंकि इनको कभी भी स्पष्ट रूप से पारिभाषित नहीं किया जाता था। जैसा कि अब हम जानते हैं कि बस्तियां सदैव बढ़ती तथा फैलती रहती थीं। उस समय में प्राकृतिक सीमाओं जैसे कि पर्वतों या नदियों को ही गांवों की सीमाएं मान लिया जाता। परन्तु जहां बस्तियां एक गांव की स्थलीय सीमाओं से जुड़ती थीं वहां पर सीमाओं को पड़ोसी गांवों का उल्लेख करके निश्चित किया जाता था। उत्तर-गुप्त काल की बहुत सी तांबे की प्रज्ञाओं में, जिनको भूमि-अनुदान करते हुए जारी किया गया, भूमि की

विभिन्न किस्मों का उल्लेख किया गया है जिनके अंतर्गत खेती योग्य, बिना जुताई वाली, ऊंची, नीची, पानी ग्रहण करने वाली, दलदली, हरि और जंगल वाली भूमि शामिल थी। ज़मीन की उत्पादकता तथा भूमि के गुण को संभवतः इस प्रकार की उल्लिखित किस्मों के आधार पर ही निश्चित किया गया। भूमि की किस्मों के इस भांति के विस्तारपूर्वक विवरणों से स्पष्ट है कि कृषि एवं पशुपालन का महत्व बढ़ने लगा था।

जिन ग्रामों को ब्राह्मणों को अनुदान में दिया गया उनको "ब्रह्मदेय" और "अग्रहर" के नाम से जाना जाता था। जिन गांवों को ब्राह्मणों ने दान स्वरूप प्राप्त किया था उन गांवों में ब्राह्मणों के साथ-साथ गैर-ब्राह्मण लोग भी रहते थे। परन्तु इस प्रकार के गांवों में सम्पत्ति के अधिकार केवल ब्राह्मणों को प्राप्त थे। दक्षिण भारत में भी इस प्रकार के गांवों को **मंगल** के नाम से जाना जाता था। दक्षिण भारत में दोनों प्रकार की ब्राह्मणिक बस्तियां प्रशासनिक तथा सामाजिक संगठन के स्तर पर गैर-ब्राह्मणिक साधारण ग्रामों से भिन्न थीं। **सभाएं** ब्राह्मणों की बस्तियों का प्रतिनिधित्व करती थीं। जबकि डर साधारण ग्रामीण बस्तियों का प्रतिनिधित्व करती। देश के किसी भी भाग की इन दोनों प्रकार की बस्तियों के बीच अनुपातिक विभाजन करना एक कठिन कार्य है। जैसा कि अब हम जानते हैं कि साधारण ग्रामों का खूब अनुदान ब्राह्मणों को दिया जाता था। इन सबके बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि दान किए गए गांव ग्रामीण बस्तियों का केवल एक भाग ही बनाते थे।

36.8 कृषि संबंधों की नवीन विशेषताएं

अब हम कृषि संबंधों की उन मुख्य-मुख्य विशेषताओं का विश्लेषण करेंगे, जिनका विकास प्रारंभिक मध्य काल में हुआ।

36.8.1 किसानों पर आर्थिक बोझ

भूमि-अनुदान प्रज्ञाओं के द्वारा अनुदान प्राप्तकर्ताओं को दान किए गए ग्राम या ग्रामों के निवासियों के ऊपर उच्चतर अधिकार प्रदान कर दिए गए। दान प्राप्तकर्ता सभी प्रकार के करों को एकत्रित करने के हकदार थे। वे स्थायी तथा अस्थायी करों को एकत्रित कर सकते थे और उनकी अदायगियों को भी निश्चित एवं अनिश्चित कर सकते थे। अभिलेखों में करों की जो सूची दी गई है उनमें **आदि** शब्द का उल्लेख हुआ है और जिसका उपयोग जब भी आवश्यक होता तो ज़मींदार अपने लाभ के लिए करता था। इन अतिरिक्ति अपवादीय लाभों के साथ-साथ दान प्राप्तकर्ता अन्य स्थायी करों जैसे कि **भाग, भोग, कर, उपारिकर, हिरण्य, उदरंग, हलिकाकर** इत्यादि को वसूल करते थे। यह वास्तविकता है कि प्रारंभिक मध्य काल में किसानों पर लगातार करों का बोझा बढ़ रहा था। वाकाटक अनुदान प्रज्ञाओं में चौदह प्रकार के करों का उल्लेख किया गया है। पल्लव शासकों के साक्ष्यों में इनकी संख्या अठारह से बीस बताई गई है। दसवीं सदी ई. के अंत तक विभिन्न प्रकार के करों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई।

गुप्त और उत्तर-गुप्त काल में उत्तरी महाराष्ट्र, कोंकण, मध्य प्रदेश तथा गुजरात से संबंधित भूमि-अनुदान प्रज्ञाओं में भूमि पर दान प्राप्तकर्ताओं के उच्च अधिकार स्पष्ट हैं। दान प्राप्तकर्ताओं को यह अधिकार था कि वे किसानों को अपनी इच्छानुसार बेदखल कर सकते और उनके स्थान पर नए किसानों को रख सकते थे। सातवीं सदी से अनुदानों के कारण जल साधनों, वृक्षों, झाड़ियों और चरागाहों पर भी दान प्राप्तकर्ताओं का अधिकार होना शुरू हो गया था। दसवीं सदी के बाद से इस परम्परा की गति और तेज हो गई। इन साधनों के दान प्राप्तकर्ताओं के हाथ में चले जाने से न केवल अनुदानित ग्रामों के किसानों पर विपरीत प्रभाव पड़ा बल्कि इससे दान प्राप्तकर्ताओं की स्थिति और मज़बूत हो गई। बंधुआ मज़दूरी का उल्लेख **स्कन्द पुराण** में आया है। अभिलेखों में भी यह उल्लेख आया है कि पांचवीं-छठी सदियों से पश्चिमी मध्य और दक्षिणी भारत में **विष्टि** का भली भांति प्रकार से प्रयोग होने लगा था। इसी के साथ-साथ भूमि-अनुदान प्रज्ञाओं में यह धारा भी दी गई कि किसानों को दान प्राप्तकर्ताओं (ग्रहीतों) के आदेशों का पालन करना चाहिए। चम्बा, राजस्थान, मध्य प्रदेश और पूर्वी भारत जैसे क्षेत्रों में निश्चित रूप से किसानों की स्थिति में गिरावट आई।

36.8.2 सामंतीय भू-व्यवस्था

स्मृति ग्रंथों के लेखकों याज्ञवलक्य और बृहस्पति ने भूमि के एक ही टुकड़े पर चार क्रम में भूमि अधिकारों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार अधिकारों का उपभोग करने वालों के विभिन्न क्रम इस प्रकार थेः महापति (राजा), क्षेत्रस्वामी (खेत का मालिक), कृषक (खेती करने वाला) और अर्ध-कृषक। भूमि-अनुदानों ने भूमि पर वर्गीय अधिकारों तथा अर्ध-काश्तकारी का मार्ग प्रशस्त किया और इस परम्परा के कारण

ज़मींदारों की उत्पत्ति हुई जो किसानों के द्वारा पैदा किए गए अतिरिक्त उत्पादन के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते थे। पूर्वी तथा दक्षिण भारत में धार्मिक संगठनों का व्यापक भूमि-अनुदानों, धन व काफी बड़ी संख्या में पशुओं आदि के साथ उड़ीसा के रत्नगिरि और बिहार में नालन्दा पर विशाल भू-मठाधीशों के रूप में उदय हुआ क्योंकि इन्होंने अनुदानों के फलस्वरूप विशाल भूमि को प्राप्त किया था। नालन्दा बौद्ध 200 गांवों का उपयोग करता था। दक्षिण भारत में पल्लव शासकों के शासन काल के दौरान मंदिरों को भूमि तथा गांवों का अनुदान किया गया। आगामी चोल शासकों के प्रमाणों में इस प्रकार के भूमि-अनुदानों के लिए देवदान (साहित्यिक रूप में देवताओं को दिया जाने वाला दान) शब्द का उल्लेख हुआ। पल्लवों के समय से ही मंदिर के सेवकों को वेतन के लिए भूमि को दिया जाने लगा। इसके परिणाम स्पष्ट हैं। अब धार्मिक मठों की भूमि से लाभ प्राप्त करने वाले हो गए और वे अपने आश्रितों जैसे कि छोटे अधिकारी, कारीगरों, संगीतज्ञों, सेवकों आदि को ज़मीन के खंडों को देते। इस प्रकार की ज़मीनों को लगान पर दे देते थे। इसी प्रकार से, मंदिरों की भूमि को खेती करने के लिए किसान को किराये या लगान पर दे दिया जाता। पल्लव शासकों के शासन काल से मंदिरों को जो भूमि अनुदान में दी जाने लगी उससे पेचीदा भू-व्यवस्था का विकास हुआ। इस प्रक्रिया की गति विशेषकर आठवीं सदी से और तीव्र हो गई तथा इसने किसानों के एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जो करों के अत्यधिक बोझ से दब गया एवं जो भूमि में उच्चतर अधिकारों से लैस ज़मींदार वर्ग के लिए जीविकोपार्जन करने वाले बन गए।

36.8.3 बंद अर्थव्यवस्था का विकास

प्रारंभिक मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था ने बहुत-सी ऐसी ग्रामीण बस्तियों के उदय तथा विकास का अनुभव किया जिनका विनिमय कार्य प्रणाली और दूर-दराज के व्यापार से संपर्क नहीं था।

यद्यपि विनिमय व्यवस्था पूर्णतः नष्ट नहीं हुई, परन्तु विभिन्न प्रकार के दान प्राप्तकर्ताओं की बस्तियों को परिवर्तित कर देने के कारण मूलतः ऐसा वातावरण बन गया जिसके क़ारण आत्म-निर्भर, उत्पादन और उपभोग की बंद इकाइयों का जन्म हुआ। स्थानीय जरूरतों को स्थानीय स्तर पर ही पूरा किया जाने लगा। युद्धों के लिए सेनाओं और धार्मिक केन्द्रों के लिए तीर्थयात्रियों का आवागमन तथा ब्राह्मणों के द्वारा भूमि-अनुदानों को पाना एवं उल्लास मनाना ही संभवतः स्थलीय गतिशीलता के तरीके थे। धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणों के द्वारा यात्रा करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अपने वैदिक एवं घरेलू कार्यों के लिए, अग्नि सदैव प्रज्जवलित रखने के कारण वे दूर-दराज के स्थानों की यात्रा नहीं कर सकते थे। समुद्र यात्राओं को भी प्रतिबन्धित कर दिया गया। आस-पड़ोस में विवाह करने को प्राथमिकता दी जाने लगी। इन सबके कारण स्थानीय पहचान बनाए रखने की भावना को और बल मिला। ग्रामों की स्थानीयता और आत्म-निर्भरता की बढ़ती भावना को ग्राम धर्म, ग्रामकर और स्थानकर जैसे शब्दों में व्यक्त किया गया और इन सभी शब्दों का प्रयोग समकालीन पौराणिक साहित्य में गांव या स्थानीयता का उल्लेख करने के लिए हुआ।

बोध प्रश्न 2

1) कृषि तकनीकी क्षेत्र में हुई मुख्य प्रगति को पांच पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

2) प्रारंभिक मध्य काल के दौरान कृषि-संबंधों की मुख्य विशेषताओं का दस पंक्तियों में विवरण दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3) निम्नलिखित कथनों में से कौन-सा कथन सही (√) है और कौन सा गलत (×):

   i) नगरों के ह्रास के कारण कारीगरों का विस्थापन गांवों की ओर नहीं हुआ।

   ii) हर्षचरित में सिंचाई सुविधाओं का कोई उल्लेख नहीं है।

   iii) सभी ग्रामीण बस्तियां एक समान नहीं थीं।

   iv) जिन ग्रामों का ब्राह्मणों को अनुदान किया गया तथा जिनमें ब्राह्मण निवास करते थे ब्रह्मदेव कहा जाता था।

   v) धर्मशास्त्रों ने ब्राह्मणों के आवागमन को नियंत्रित किया।

36.9 सारांश

दसवीं सदी ई. के मध्य से अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के विभिन्न प्रतिमानों का उल्लेख किया गया है। ये परिवर्तन इसलिये और अति महत्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा भारत के इतिहास में प्राचीन काल का अन्त तथा नए युग का प्रादुर्भाव हुआ। जिस ढंग से पुराने युग ने नए युग में प्रवेश किया उसको महत्वपूर्ण परिवर्तनों ने स्वयं स्पष्ट किया। गुप्त और उत्तर-गुप्त काल के इतिहास को निम्नलिखित विशेषताओं के आधार पर रेखांकित किया जा सकता है:

- कृषि अर्थव्यवस्था में एक ज़मींदार वर्ग तथा दूसरे परतंत्र किसान वर्ग का उद्भव और जिसमें देहातीपन तथा कृषि की प्रमुखता थी;
- प्रत्यक्ष रूप से व्यापार का ह्रास;
- नगरों का ह्रास; और
- धातु धन की कमी।

फिर भी यह व्यापक गतिशीलता की विशेषता का युग था। इस पृष्ठभूमि में जो परिवर्तन हुए, उनको इस प्रकार से जाना जा सकता है: नवीन फसलों का विकास, सिंचाई सुविधाओं का निर्माण, पौधों तथा पशुओं की बीमारियों के प्रति सचेतना का बढ़ना, कृषि से संबंधित दूसरे अन्य पक्षों में सुधार, कुछ ऐसी बस्तियों के आकार में वृद्धि जो ग्रामीण समुदायों के मिलन बिन्दुओं के मध्य पैदा हुई और विनिमय व्यवस्था, मेलों तथा व्यापारिक केन्द्रों की पुनः उत्पत्ति।

36.10 शब्दावली

नवीन संस्कृति का ग्रहण : नई संस्कृति को अपनाना।

माल की अदल-बदल करना (वस्तु विनिमय) : एक सामान से दूसरे सामान के द्वारा विनिमय करना।

पुजारी की वृत्ति : उपहार में की गई भू-सम्पत्ति जो ब्राह्मणों आदि के अधीन हो।

ग्रहीत : लाभ प्राप्तकर्ता।

प्रज्ञा (राजपत्र) : जिसके द्वारा अनुदान के अधिकारों की व्याख्या होती थी।

विदेशी वस्तु : विदेश से आई वस्तु से परिचित होना।

घुमक्कड़ यात्री : एक जगह से दूसरी जगह की यात्रा करने वाला।

सौदागर : यात्रा पर जाकर सामान बेचने वाला।

बन्द अर्थव्यवस्था : ऐसी अर्थव्यवस्था जिसके अन्तर्गत विनिमय प्रणाली का कम से कम उपयोग होता हो और जिसका नगरीय केन्द्रों के साथ बहुत ही कम या नहीं के बराबर सम्पर्क हो।

36.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अपने उत्तर की तुलना भाग 36.3 के सार तत्व के साथ कीजिए।

2) i) × ii) √ iii) √ iv) √ v) ×

बोध प्रश्न 2

1) उपभाग 36.6.1 को देखिए।

2) भाग 36.8 को देखिए।

3) i) × ii) × iii) √ iv) × v) √